

Chapter सत्रह

माता पार्वती द्वारा चित्रकेतु को शाप

इस अध्याय में भगवान् शिव के साथ हँसी करने के कारण चित्रकेतु द्वारा असुर देह प्राप्त करने का वर्णन है।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से बातें करने के बाद चित्रकेतु विद्याधर लोक की स्त्रियों के साथ अपने विमान में सुखोपभोग करने लगा। भगवान् के यश का सामूहिक कीर्तन करने के बाद उसने अपने विमान में बाह्य अन्तरिक्ष में उड़ान भरी। एक दिन इस प्रकार उड़ते-उड़ते वह सुमेरु पर्वत के निकुंजों में जा पहुँचा जहाँ चारों ओर से सिद्धों, चारणों और साधुओं से घिरे हुए शिवजी पार्वती का आलिंगन कर रहे थे। शिवजी को उस स्थिति में देखकर चित्रकेतु जोर-जोर से हँसा जिससे पार्वती अत्यन्त रुष्ट हो उठीं और उसे शाप दे दिया। इस शाप से चित्रकेतु ने बाद में वृत्रासुर नामक असुर के रूप में जन्म लिया।

किन्तु चित्रकेतु पार्वती के शाप से तनिक भी नहीं डरा। वह इस प्रकार बोला—“प्रत्येक प्राणी अपने विगत कर्मों के अनुसार मानव-समाज में सुख-दुख का भोग करता है और इस भौतिक जगत में विचरण करता है। अतः वह स्वयं अपने सुख-दुख के लिए उत्तरदायी है। इस जगत में प्रत्येक प्राणी भौतिक प्रकृति द्वारा नियंत्रित होता है, तो भी वह अपने आपको प्रत्येक वस्तु का कर्ता मानता है। यह जगत में जो मनुष्य भगवान् की बहिरंगा शक्ति से उद्भूत है वह भी शापित होता है, तो कभी वर प्राप्त करता है और इस प्रकार वह कभी स्वर्गलोक का सुख भोगता है, तो कभी अधोलोकों का दुख; किन्तु ये समस्त स्थितियाँ एक सी हैं क्योंकि ये इसी भौतिक संसार में हैं। इनमें कोई भी स्थिति स्थायी अस्तित्व नहीं रखती क्योंकि ये सभी अस्थायी हैं। भगवान् ही

परम नियंता हैं क्योंकि उन्हीं के नियंत्रण में इस संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है, किन्तु वे इन विभिन्न रूपान्तरों के प्रति उदासीन बने रहते हैं। भगवान् की भौतिक बहिरंगा शक्ति इस भौतिक जगत के ऊपर नियंत्रण रखती है। ईश्वर जीवात्माओं के लिए विभिन्न स्थितियाँ उत्पन्न करके संसार की सहायता करते हैं।”

जब चित्रकेतु ने इस प्रकार कहा तो वहाँ पर उपस्थित शिव तथा पार्वती सहित सभा के सभी सदस्यों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। तब भगवान् शिव ईश्वर के भक्तों के सम्बन्ध में बताने लगे। उन्होंने बताया कि भक्त जीवन की समस्त स्थितियों में उदासीन रहता है, चाहे वह स्वर्गलोक में हो या नरक लोक में, चाहे वह मुक्त हो या बद्ध, चाहे वह सुखी हो या दुखी। ये माया द्वारा उत्पन्न द्वैत मात्र हैं। माया के प्रभाव से जीवात्मा स्थूल तथा सूक्ष्म देह धारण करता है और इस आडम्बरपूर्ण स्थिति में ईश्वर का अंश होते हुए भी कष्ट उठाता है। तथाकथित देवता अपने को स्वतंत्र राजा मानते हैं और वे यह भूल जाते हैं कि समस्त जीवात्माएँ परमेश्वर के भिन्न अंश हैं। यह अध्याय भक्त तथा भगवान् के यशोगान के साथ समाप्त होता है।

श्रीशुक उवाच

यतश्चान्तर्हितोऽनन्तस्तस्यै कृत्वा दिशो नमः ।
विद्याधरश्चित्रकेतुश्चचार गगने चरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; यतः—जिस (दिशा); च—तथा; अन्तर्हितः—अन्तर्धान; अनन्तः—भगवान् अनन्त; तस्यै—उसको; कृत्वा—करके; दिशो—दिशा में; नमः—नमस्कार; विद्याधरः—विद्याधर लोक का राजा; चित्रकेतुः—चित्रकेतु; चचार—यात्रा की; गगने—बाह्य अन्तरिक्ष में; चरः—चल।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा—जिस दिशा में भगवान् अनन्त अन्तर्धान हुए थे उस दिशा की ओर नमस्कार करके, राजा चित्रकेतु विद्याधरों का अगुवा बनकर बाह्य अन्तरिक्ष में यात्रा करने लगा।

स लक्षं वर्षलक्षाणामव्याहतबलेन्द्रियः ।

स्तूयमानो महायोगी मुनिभिः सिद्धचारणैः ॥ २ ॥

कुलाचलेन्द्रद्रोणीषु नानासङ्कल्पसिद्धिषु ।

रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गापयन्हरिमीश्वरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (चित्रकेतु) ; लक्षम्—एक लाख ; वर्ष—वर्ष ; लक्षणाम्—एक लाख का ; अव्याहत—बाधारहित ; बल-इन्द्रियः—जिसकी इन्द्रियों का बल तथा शक्ति ; स्तूयमानः—प्रशंसित होकर ; महा-योगी—परम योगी ; मुनिभिः—मुनियों द्वारा ; सिद्ध-चारणैः—सिद्धों तथा चारणों से ; कुलाचलेन्द्र-द्रोणीषु—कुलाचलेन्द्र अथवा सुमेरु पर्वत की घाटियों में ; नाना-सङ्कल्प-सिद्धिषु—जहाँ समस्त प्रकार की योग शक्तियाँ सिद्ध हो जाती हैं ; रेमे—भोग किया ; विद्याधर-स्त्रीभिः—विद्याधर लोक की स्त्रियों के साथ ; गापयन्—प्रशंसा करती हुई ; हरिम्—भगवान्, हरि ; ईश्वरम्—नियन्ता की ।

महान् साधुओं तथा मुनियों एवं सिद्धलोक तथा चारणलोक के वासियों द्वारा प्रशंसित, सर्वाधिक शक्तिशाली योगी चित्रकेतु लाखों वर्षों तक जीवन का आनन्द भोगता हुआ विचरता रहा । शारीरिक शक्ति तथा इन्द्रियों के क्षीण हुए बिना वह सुमेरु पर्वत की घाटियों में घूमता रहा वहाँ जो विभिन्न प्रकार की योग-शक्तियों की सिद्धि का स्थान है । उसने भगवान् हरि की महिमा का जप करते हुए विद्याधरलोक की रमणियों के साथ जीवन का आनन्द उठाया ।

तात्पर्य : यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि महाराज चित्रकेतु विद्याधरलोक की अनुपम सुन्दरियों से घिरे होते थे, किन्तु वे भगवान् के पवित्र नाम का जाप करके उनका यशोगान करना नहीं भूले । कई स्थलों पर यह सिद्ध हो चुका है कि जो किसी भौतिक अवस्था से कलुषित नहीं है और जो भगवान् के यश का जप करने वाला शुद्ध भक्त है, ऐसे शुद्ध भक्त को सिद्ध मानना चाहिए ।

एकदा स विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता ।

गिरिशं ददृशे गच्छन्परीतं सिद्धचारणैः ॥ ४ ॥

आलिङ्ग्याङ्गीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि ।

उवाच देव्याः शृण्वन्त्या जहासोच्चैस्तदन्तिके ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार ; सः—उस (राजा चित्रकेतु) ने ; विमानेन—विमान से ; विष्णु-दत्तेन—भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त ; भास्वता—देदीप्यमान्, तेजोमय ; गिरिशम्—भगवान् शिव को ; ददृशे—देखा ; गच्छन्—जाते हुए ; परीतम्—घिरे हुए ;

सिद्ध—सिद्धलोक के वासियों से; चारणैः—तथा चारणलोक के वासियों से; आलिङ्ग्य—आलिंगन करते हुए; अङ्गीकृताम्—अपनी गोद में बैठाये हुए; देवीम्—अपनी पार्वती को; बाहुना—अपने हाथ से; मुनि-संसदि—अनेक बड़े-बड़े साधुओं की उपस्थिति में; उवाच—वह बोला; देव्याः—जब देवी पार्वती; शृण्वन्त्याः—सुन रही थीं; जहास—वह हँसा; उच्चैः—अत्यन्त तेजी से; तद्-अन्तिके—पास में।

एक बार जब राजा चित्रकेतु भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त अत्यन्त तेजोमय विमान पर बैठकर बाह्य अन्तरिक्ष में यात्रा कर रहा था, तो उन्होंने भगवान् शिव को सिद्धों एवं चारणों से घिरा हुआ देखा। शिवजी महामुनियों की सभा में बैठे थे और देवी पार्वती को अपनी गोद में बैठाकर अपने हाथ से उनका आलिंगन कर रहे थे। राजा चित्रकेतु पार्वती के निकट जाकर तेजी से हँसे और कहने लगे।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—

भक्ति भूतिं हरिर्दत्त्वा स्वविच्छेदानुभूतये।

देव्याः शापेन वृत्रत्वं नीत्वातं स्वान्तिकेऽनयत् ॥

सारांश यह कि भगवान् चित्रकेतु को यथाशीघ्र वैकुण्ठलोक लाना चाहते थे। ईश्वर की योजना यह थी कि पार्वती के शाप से चित्रकेतु वृत्रासुर बने जिससे वह अगले जन्म में भगवान् के धाम को तुरन्त लौट सके। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब भक्त से असुर का कार्य कराते हुए ईश्वर ने अनुग्रहवश उसे अपने धाम वापस बुला लिया। भगवान् शिव द्वारा पार्वती का आलिंगन किया जाना पति-पत्नी सम्बन्ध के अनुसार स्वाभाविक था; यह चित्रकेतु के लिए कोई विलक्षण घटना न थी। तो भी चित्रकेतु भगवान् शिव को उस मुद्रा में देखकर जोर से हँस पड़ा, यद्यपि उसे ऐसा नहीं करना चाहिए था। फलतः उसे शापित होना पड़ा और यह शाप उसके भगवान् के धाम वापस जाने का कारण बना।

चित्रकेतुरुवाच

एष लोकगुरुः साक्षाद्धर्मं वक्ता शरीरिणाम् ।

आस्ते मुख्यः सभायां वै मिथुनीभूय भार्यया ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

चित्रकेतुः उवाच—चित्रकेतु ने कहा; एषः—यह; लोक-गुरुः—वैदिक शिक्षाओं को मानने वाले लोगों के गुरु; साक्षात्—प्रत्यक्ष; धर्मम्—धर्म का; वक्ता—बोलने वाला; शरीरिणाम्—देहधारी समस्त जीवात्माओं के; आस्ते—बैठाना है; मुख्यः—प्रधान, मुखिया; सभायाम्—सभा में; वै—निस्सन्देह; मिथुनी-भूय—आलिंगन करते हुए; भार्यया—अपनी पत्नी के साथ।

चित्रकेतु ने कहा—शिवजी समस्त जगत के गुरु हैं और भौतिक देहधारी जीवात्माओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। वे ही धर्मपद्धति के व्याख्याता हैं, तो भी यह कितना आश्चर्यजनक है कि वे बड़े बड़े सन्त पुरुषों की सभा के बीच अपनी पत्नी पार्वती का आलिंगन कर रहे हैं!

जटाधरस्तीव्रतपा ब्रह्मवादिसभापतिः ।

अङ्गीकृत्य स्त्रियं चास्ते गतह्रीः प्राकृतो यथा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

जटा-धरः—जटा धारण करने वाले; तीव्र-तपाः—कठिन तपस्या के कारण सिद्ध; ब्रह्म-वादि—वैदिक नियमों के कट्टर अनुयायी का; सभा-पतिः—अध्यक्ष, सभापति; अङ्गीकृत्य—आलिंगन करके; स्त्रियम्—स्त्री को; च—तथा; आस्ते—बैठा है; गत-ह्रीः—निर्लज्ज; प्राकृतः—प्रकृति द्वारा बद्ध पुरुष; यथा—जिस प्रकार।

जटाधरी शिवजी ने निस्सन्देह कठिन तपस्या की है। वे वैदिक नियमों के कट्टर अनुयायियों की सभा के अध्यक्ष हैं। किन्तु तो भी वे साधु पुरुषों के मध्य अपनी गोद में अपनी पत्नी को लेकर विराजमान हैं और सामान्य निर्लज्ज व्यक्ति की भाँति उसका आलिंगन कर रहे हैं।

तात्पर्य : चित्रकेतु शिवजी के उच्च पद से परिचित था इसलिए उन्होंने यह कहा कि यह कितना आश्चर्य है कि शिवजी सामान्य व्यक्ति जैसा आचरण कर रहे हैं। उन्होंने शिवजी के पद की प्रशंसा की किन्तु जब उन्होंने देखा कि वे साधु पुरुषों की सभा में बैठकर निर्लज्ज होकर सामान्य व्यक्तियों का सा व्यवहार कर रहे हैं, तो उन्हें आश्चर्य हुआ। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यद्यपि चित्रकेतु ने शिवजी की आलोचना की, किन्तु दक्ष की भाँति उनका अपमान नहीं किया। दक्ष ने तो शिवजी को नगण्य मान लिया था जबकि चित्रकेतु ने शिवजी के इस प्रकार आसीन होने पर आश्चर्य ही व्यक्त किया।

प्रायशः प्राकृताश्चापि स्त्रियं रहसि बिभ्रति ।
अयं महाव्रतधरो बिभर्ति सदसि स्त्रियम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

प्रायशः—सामान्यतः; प्राकृताः—बद्धजीव; च—भी; अपि—यद्यपि; स्त्रियम्—स्त्री को; रहसि—निर्जन स्थान में; बिभ्रति—आलिंगन करता है; अयम्—यह (शिवजी); महा-व्रत-धरः—महान् व्रतों तथा तपस्याओं का स्वामी; बिभर्ति—भोग कर रहा है; सदसि—महान् पुरुषों की सभा में; स्त्रियम्—अपनी पत्नी का ।

प्रायः सामान्य पुरुष एकान्त में ही अपनी पत्नियों का आलिंगन और भोग करते हैं। यह कितना आश्चर्यजनक है कि इतने बड़े तपस्वी महादेव परम साधुओं की सभा के बीच अपनी पत्नी का सबों के समक्ष आलिंगन कर रहे हैं!

तात्पर्य : महा-व्रत-धरः शब्द का अर्थ ब्रह्मचारी है, जो कभी नीचे पतित नहीं होता। शिवजी की गणना श्रेष्ठ योगियों में की जाती है, तो भी उन्होंने साधुओं की सभा में अपनी पत्नी का आलिंगन किया। चित्रकेतु इसकी प्रशंसा करते हैं कि शिव कितने महान् हैं, जो इस स्थिति में भी अप्रभावित बने रहे। अतः चित्रकेतु ने कोई अपराध नहीं किया; उसने मात्र अपना आश्चर्य प्रकट किया।

श्रीशुक उवाच

भगवानपि तच्छ्रुत्वा प्रहस्यागाधधीर्नृप ।
तूष्णीं बभूव सदसि सभ्याश्च तदनुव्रताः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भगवान्—भगवान् शिव; अपि—भी; तत्—वह; श्रुत्वा—सुनकर; प्रहस्य—हँसकर; अगाधधीः—अगाध बुद्धि वाला; नृप—हे राजा; तूष्णीम्—चुप; बभूव—हो गया; सदसि—सभा में; सभ्याः—सारे सदस्यों ने; च—तथा; तत्-अनुव्रताः—भगवान् शिव का अनुसरण किया (चुप रहे)।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजा! चित्रकेतु के वचन सुनकर परम बलशाली, अगाध ज्ञानवान् देवाधिदेव शिव केवल हँस दिये और चुप रहे। सभा के समस्त सदस्यों ने भी उन्हीं का अनुकरण किया और कुछ नहीं कहा।

तात्पर्य : चित्रकेतु द्वारा शिव की आलोचना का उद्देश्य रहस्यमय है और सामान्य व्यक्ति की समझ के परे है। तो भी श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस प्रकार टिप्पणी की है। परम वैष्णव

एवं परम शक्तिशाली देवता होने के कारण शिवजी अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने में समर्थ हैं। यद्यपि वे बाह्यरूप से सामान्य व्यक्ति का सा आचरण कर रहे थे और शिष्टाचार का पालन नहीं कर रहे थे, किन्तु ऐसे कार्यों से उनकी उच्च स्थिति में कोई कमी नहीं आती। कठिनाई यही है कि सामान्य व्यक्ति उनके इस आचरण को देखकर उसका अनुकरण कर सकता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.२१) में कहा गया है—

यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

“महापुरुष जो जो आचरण करता है, सामान्य पुरुष उसका अनुसरण करते हैं। वह पुरुष अपने विलक्षण कार्यों से जो आदर्श स्थापित कर देता है, सम्पूर्ण विश्व उसी के अनुसार कार्य करता है।” सामान्य व्यक्ति भी दक्ष की भाँति जिसने आलोचना का फल भोगा वह शिवजी की आलोचना करके कष्ट का भागी हो सकता है। राजा चित्रकेतु चाहते थे कि शिवजी अपना बाह्य व्यवहार बन्द कर दें ताकि दूसरे लोग आलोचना न करें और अपराध के भागी न हों। यदि कोई यह सोचता है कि भगवान् विष्णु ही पूर्ण हैं और अन्य सभी देवता शिवजी के समान अनुचित कृत्य करते रहें तो वह अपराधी है। यह सब सोचकर ही चित्रकेतु शिवजी के प्रति इतने निष्ठुर हो सके।

शिवजी परम ज्ञानी होने के कारण चित्रकेतु के मन्तव्य को समझ गये, अतः वे तनिक भी क्रुद्ध नहीं हुए; अपितु हँसकर शान्त बने रहे। शिवजी को घेर कर बैठे हुए सभा के सदस्य भी चित्रकेतु के मन्तव्य को समझ गये। फलतः शिवजी के व्यवहार की प्रतिक्रिया में उन्होंने कोई प्रतिवाद नहीं किया और वे भी शान्त रहे। यदि सभा के सदस्यों ने यह सोचा होता कि चित्रकेतु ने शिवजी का अपमान किया है, तो वे अपने कानों को बन्द करके अवश्य ही उठकर चले जाते।

इत्यतद्वीर्यविदुषि ब्रुवाणे बह्वशोभनम् ।

रुषाह देवी धृष्टाय निर्जितात्माभिमानिने ॥ १० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अ-तत्-वीर्य-विदुषि—शिव के शौर्य को न जानने के कारण चित्रकेतु ने; ब्रुवाणे—कहा; बहु-अशोभनम्—अत्यन्त अशोभनीय बातें उच्चपदीय शिव की आलोचना; रुषा—क्रोध से; आह—कहा; देवी—देवी पार्वती; धृष्टाय—निर्लज्ज चित्रकेतु से; निर्जित-आत्म—जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है; अभिमानिने—अपने आपको मानते हुए।

शिवजी तथा पार्वती के शौर्य (वीर्य) को न जानते हुए राजा चित्रकेतु ने उनकी तीखी आलोचना की। उसके बचन तनिक भी अच्छे लगने वाले न थे, अतः अत्यन्त क्रुद्ध देवी पार्वती चित्रकेतु से, जो अपने को इन्द्रियों के नियंत्रण में शिवजी से श्रेष्ठ समझ रहा था, इस प्रकार बोलीं।

तात्पर्य : यद्यपि चित्रकेतु शिव का अपमान नहीं करना चाहता था, किन्तु उसे चाहिए था कि उनकी आलोचना नहीं करता भले ही शिवजी सामाजिक शिष्टाचार का उल्लंघन कर रहे थे फिर भी उनकी आलोचना न करता। कहा गया है—*तेजीयसां न दोषाय*—जो परम समर्थ है उसे निर्दोष मानना चाहिए। उदाहरणार्थ, किसी को सूर्य की बुराई नहीं करनी चाहिए यद्यपि वह सड़कों से मूत्रादि को उड़ाता है। सर्वाधिक शक्तिमान की आलोचना न तो सामान्य व्यक्ति द्वारा, न ही महान् पुरुष द्वारा होनी चाहिए। चित्रकेतु को यह समझना चाहिए था कि यद्यपि शिव उस प्रकार बैठे हुए थे तो भी उनकी आलोचना नहीं होनी चाहिए थी। कठिनाई यह थी कि चित्रकेतु भगवान् विष्णु, संकर्षण का परम भक्त हो गया था और संकर्षण का वर प्राप्त होने से उसे कुछ-कुछ घमण्ड भी हो आया था, अतः उसने सोचा कि वह किसी की भी, चाहे वह शिवजी ही क्यों न हों, आलोचना कर सकता था। भक्त में ऐसा गर्व अक्षम्य है। वैष्णव को हमेशा विनम्र रहना चाहिए और अन्यो का आदर करना चाहिए।

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

“अपने को तिनके से भी तुच्छ मानते हुए मनुष्य को विनीत भाव से हरि के पवित्र नाम का

जप करना चाहिए। उसे वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु तथा मिथ्या अहंकार से रहित एवं अन्यो को सम्मान प्रदान करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। ऐसी ही मनोदशा में ईश्वर के पवित्र नाम का निरन्तर जप सम्भव है।” वैष्णव को किसी अन्य की स्थिति को कम समझने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। विनम्र बने रहकर हरे कृष्ण मंत्र का जाप करना ही श्रेयस्कर है। निर्जितात्माभिमानिने शब्द से सूचित होता है कि चित्रकेतु अपने को शिव से भी बड़ा इन्द्रियजित मानता था, किन्तु वास्तव में वह वैसा नहीं था। इन्हीं कारणों से माता पार्वती चित्रकेतु पर क्रुद्ध हुई।

श्रीपार्वत्युवाच

अयं किमधुना लोके शास्ता दण्डधरः प्रभुः ।

अस्मद्विधानां दुष्टानां निर्लज्जानां च विप्रकृत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-पार्वती उवाच—देवी पार्वती ने कहा; अयम्—यह; किम्—क्या; अधुना—अब; लोके—संसार में; शास्ता—परम नियन्ता; दण्ड-धरः—दण्ड देने वाला; प्रभुः—स्वामी; अस्मत्-विधानाम्—इन जैसे व्यक्तियों का; दुष्टानाम्—अपराधी; निर्लज्जानाम्—निर्लज्जों का; च—तथा; विप्रकृत्—नियंत्रण रखने वाला, रोकने वाला।

देवी पार्वती ने कहा—ओह, क्या हम जैसे निर्लज्ज व्यक्तियों को दण्ड देने के लिए इसने दण्डधारी का पद ले लिया है? क्या इसे शासक नियुक्त किया गया है? क्या यही सबों का एकमात्र स्वामी है?

न वेद धर्म किल पद्मयोनि-

र्न ब्रह्मपुत्रा भृगुनारदाद्याः ।

न वै कुमारः कपिलो मनुश्च

ये नो निषेधन्त्यतिवर्तिनं हरम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वेद—जानता है; धर्मम्—धर्म को; किल—निस्सन्देह; पद्म-योनिः—भगवान् ब्रह्मा; न—न तो; ब्रह्म-पुत्राः—भगवान् ब्रह्मा के पुत्र; भृगु—भृगु; नारद—नारद; आद्याः—इत्यादि; न—न तो; वै—निस्सन्देह; कुमारः—चारों अश्विनी कुमार; कपिलः—भगवान् कपिल; मनुः—स्वयं मनु; च—तथा; ये—जो; नो—नहीं; निषेधन्ति—रोक लगाते हैं; अति-वर्तिनम्—नियमों तथा आदेशों के परे; हरम्—भगवान् शिव को।

अहो! ऐसा प्रतीत होता है कि न तो कमल-पुष्प से जन्म लेने वाले ब्रह्मा, न भृगु तथा

नारद जैसे महामुनि अथवा सनत कुमार आदि चारों कुमार ही धर्म के नियमों को जानते हैं। मनु तथा कपिल भी उन नियमों को भूल चुके हैं। मैं सोचती हूँ कि इसलिए उन्होंने कभी शिवजी को इस प्रकार अनुचित ढंग से आचरण करने के लिए नहीं टोका।

एषामनुध्येयपदाब्जयुगम्

जगद्गुरुं मङ्गलमङ्गलं स्वयम् ।

यः क्षत्रबन्धुः परिभूय सूरीन्

प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्ड्यः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एषाम्—इन सबों में (महापुरुषों) में; अनुध्येय—ध्यान करने योग्य; पद-अब्ज-युगम्—जिनके दो चरणकमल; जगद्गुरुम्—सारे विश्व का गुरु; मङ्गल-मङ्गलम्—साक्षात् सर्वश्रेष्ठ धार्मिक नियम; स्वयम्—स्वयं; यः—जो; क्षत्र-बन्धुः—क्षत्रियों में सबसे निकृष्ट; परिभूय—मात देकर; सूरीन्—देवतागण (यथा ब्रह्मा तथा अन्य); प्रशास्ति—दण्ड देता है; धृष्टः—ढीठ ने; तत्—अतः; अयम्—यह व्यक्ति; हि—निस्सन्देह; दण्ड्यः—दण्डनीय है।

यह चित्रकेतु में घोर निकृष्ट है क्योंकि इसने उन शिवजी का तिरस्कार करके ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं को मात कर दिया है, जो उनके चरणकमलों पर बैठकर सदैव ध्यान धरते रहते हैं। भगवान् शिव साक्षात् धर्म तथा समस्त जगत के गुरु हैं अतः चित्रकेतु दण्डनीय है।

तात्पर्य : सभा के सभी सदस्य परम ब्रह्म तथा स्वरूपसिद्ध जीव थे, किन्तु उन्होंने अपनी गोद में लेकर पार्वती को आलिंगित करते हुए शिवजी के व्यवहार के लिए कुछ भी नहीं कहा। तो भी चित्रकेतु ने शिवजी की आलोचना की, अतः पार्वती के विचार से वह दण्डनीय था।

नायमर्हति वैकुण्ठपादमूलोपसर्पणम् ।

सम्भावितमतिः स्तब्धः साधुभिः पर्युपासितम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अयम्—यह व्यक्ति; अर्हति—के योग्य है; वैकुण्ठ-पाद-मूल-उपसर्पणम्—भगवान् विष्णु के चरणकमल की शरण प्राप्त करने का; सम्भावित-मतिः—अपने को अत्यन्त पूज्य समझकर; स्तब्धः—घमंडी; साधुभिः—बड़े बड़े सन्त पुरुषों के द्वारा; पर्युपासितम्—पूजनीय।

यह व्यक्ति ऐसा सोचकर अपनी सफलता से फूला हुआ है कि मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ। यह व्यक्ति भगवान् विष्णु के उन चरणकमलों के निकट, जिनकी उपासना सभी साधु पुरुष

करते हैं, जाने के योग्य ही नहीं है क्योंकि यह अपने को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझ कर घमंडी बन गया है।

तात्पर्य : यदि कोई भक्त अपने आपको भक्ति में सिद्ध मान बैठता है, तो लोग उसे घमंडी तथा भगवान् के चरणकमलों के आश्रय के नीचे बैठने के लिए अयोग्य मानते हैं। यही नहीं, भगवान् चैतन्य का यह उपदेश भी लागू होता है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

“मनुष्य को चाहिए कि अपने आपको तिनके से भी तुच्छ मानकर विनीत भाव से भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन कर; उसे वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु, अहंकार से रहित तथा अन्यो का आदर करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।” ऐसी ही मानसिक स्थिति में वह निरन्तर भगवन्नाम का जप कर सकता है। जब तक मनुष्य विनम्र नहीं होता वह भगवान् के चरणकमलों के निकट बैठने का अधिकारी नहीं होता।

अतः पापीयसीं योनिमासुरीं याहि दुर्मते ।

यथेह भूयो महतां न कर्ता पुत्र किल्बिषम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; पापीयसीम्—अत्यन्त पापपूर्ण; योनिम्—योनि को; आसुरीम्—आसुरी; याहि—जाओ; दुर्मते—हे दुर्मति (कुबुद्धि); यथा—जिससे; इह—इस संसार में; भूयः—फिर; महताम्—महान् पुरुष को; न—नहीं; कर्ता—करोगे; पुत्र—हे पुत्र; किल्बिषम्—कोई पाप।

ऐ मेरे दुर्बुद्धि बेटे! अब तुम असुरों के निम्न तथा पापी परिवार में जन्म ग्रहण करो जिससे तुम पुनः इस संसार में महान् सन्त पुरुषों के प्रति ऐसा पाप न कर सको।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि वैष्णवों में श्रेष्ठ भगवान् शिव के चरणकमल में पाप करने के प्रति सतर्क रहे। श्रील रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने वैष्णव के चरणकमल पर किये गये पाप को हाती माता अर्थात् प्रमत्त हाथी कहा है। जब कोई मस्त हाथी किसी सुन्दर

बाग में घुसता है, तो वह उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। इसी प्रकार यदि कोई भगवान् के चरणकमल पर मस्त हाथी के समान पाप करता है, तो उसका सारा आध्यात्मिक जीवन अवरुद्ध हो जाता है। अतः उसे वैष्णव के चरणकमल में पाप करने के प्रति सचेष्ट रहना चाहिए।

माता पार्वती ने चित्रकेतु को दण्ड देकर ठीक ही किया क्योंकि उसने इस भौतिक संसार के बद्धजीवों के परम पिता महादेव का धृष्टतापूर्वक अपमान किया था। देवी दुर्गा माता कहलाती हैं और भगवान् शिव पिता कहलाते हैं। शुद्ध वैष्णव को चाहिए कि अन्यो की आलोचना किये बिना अपना कर्तव्य पालन करे। यही सबसे सुरक्षित स्थिति है अन्यथा यदि उस पर वैष्णव की आलोचना का पाप चढ़ता है।

चूँकि चित्रकेतु निस्सन्देह वैष्णव था, उसे पार्वती के शाप से अवश्य ही आश्चर्य हुआ होगा। इसलिए देवी पार्वती उसे पुत्र कहकर सम्बोधित किया। प्रत्येक पुरुष माता दुर्गा का पुत्र है किन्तु वे एक सामान्य माता नहीं हैं। ज्योंही कोई असुर दुराचरण करता है, माता दुर्गा तुरन्त उसे दण्डित करती हैं जिससे उसे चेत जाये। इसकी व्याख्या भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१४) में इस प्रकार की है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

“मेरी यह दैवी शक्ति अर्थात् त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे इसे सुगमतापूर्वक तर जाते हैं।” श्रीकृष्ण के शरणागत होने का अर्थ है उनके भक्तों के भी शरणागत होना क्योंकि कोई भी श्रीकृष्ण का तब तक पूर्ण दास नहीं बन सकता जब तक वह किसी भक्त का दास नहीं बन जाता। छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा—श्रीकृष्ण के दास की सेवा किये बिना कोई श्रीकृष्ण के दास पद को नहीं प्राप्त कर सकता। अतः माता पार्वती चित्रकेतु से वैसे ही बोलीं जैसे कोई माता अपने चंचल पुत्र से कहती है, “बेटे! मैं तुम्हें इसलिए दण्ड दे रही हूँ जिससे तुम फिर से ऐसा न करो।” अपने पुत्र के प्रति माता की यह प्रवृत्ति यशोदा

में भी देखी जाती है, जो श्रीभगवान् की माता बनीं। माता यशोदा भगवान् कृष्ण को बाँधकर उन्हें छड़ी दिखाकर दण्ड देती थीं। इस प्रकार माता का यह परम कर्तव्य है कि अपने प्रिय पुत्र को डाँटे, भले ही वह परमेश्वर ही क्यों न हो। अतः यह समझना चाहिए कि चित्रकेतु को दण्डित करना माता दुर्गा के लिए उचित था। यह दण्ड चित्रकेतु के लिए वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि वृत्रासुर असुर रूप में जन्म लेकर वह सीधे वैकुण्ठ को भेज दिया गया।

श्रीशुक उवाच

एवं शप्तश्चित्रकेतुर्विमानादवरुह्य सः ।

प्रसादयामास सतीं मूर्ध्ना नम्रेण भारत ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुक देव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; शप्तः—शापित; चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु; विमानात्—विमान से; अवरुह्य—उतर कर; सः—वह; प्रसादयाम् आस—परम प्रसन्न हुआ; सतीम्—पार्वती को; मूर्ध्ना—शिर से; नम्रेण—नीचे झुक कर; भारत—हे राजा परीक्षित।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजा परीक्षित! पार्वती द्वारा शाप दिये जाने पर चित्रकेतु अपने विमान से नीचे उतरा, उनके समक्ष विनम्रतापूर्वक नतमस्तक हुआ और उसने उन्हें पूर्णरूपेण प्रसन्न कर दिया।

चित्रकेतुरुवाच

प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके ।

देवैर्मर्त्याय यत्प्रोक्तं पूर्वदिष्टं हि तस्य तत् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

चित्रकेतुः उवाच—राजा चित्रकेतु ने कहा; प्रतिगृह्णामि—अंगीकार करता हूँ; ते—तुम्हारा; शापम्—शाप; आत्मनः—अपने; अञ्जलिना—बद्ध हाथों से; अम्बिके—हे माता; देवैः—देवताओं द्वारा; मर्त्याय—मनुष्य को; यत्—जो; प्रोक्तम्—नियत; पूर्व-दिष्टम्—पूर्वकर्मों के अनुसार पहले से निश्चित; हि—निस्सन्देह; तस्य—उसका; तत्—वह।

चित्रकेतु ने कहा—हे माता! मैं अपने हाथ जोड़ कर आपका शाप स्वीकार करता हूँ। मुझे शाप की परवाह नहीं है, क्योंकि मनुष्य के पूर्वकर्मों के अनुसार ही देवताओं द्वारा सुख या दुख प्रदान किये जाते हैं।

तात्पर्य : चूँकि चित्रकेतु भगवान् का भक्त था इसलिए वह माता पार्वती के शाप से तनिक भी

विचलित नहीं हुआ। उसे यह भली-भाँति ज्ञात था कि सुख या दुख दैवनेत्र या श्रीभगवान् के दूतों द्वारा पहले से निश्चित विगत कर्मों के फल होते हैं। उसे यह ज्ञात था कि उसने भगवान् शिव या माता पार्वती के चरणकमलों पर किसी प्रकार का पाप नहीं किया था किन्तु फिर भी उसे दण्डित किया गया था जिसका सीधा अर्थ था कि दण्ड तो पूर्वनिश्चित था। अतः राजा ने कोई परवाह नहीं की। भक्त स्वभाव से इतना विनम्र होता है कि जीवन की किसी अवस्था को वह ईश्वर का वरदान मानकर स्वीकार करता है, *तत् तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः* (*भागवत* १०.१४.८)। भक्त किसी के द्वारा दिये गये दण्ड को ईश्वर का अनुग्रह मान कर स्वीकार करता है। यदि मनुष्य इस प्रकार की विचारधारा से रहे तो वह देखता है कि उसे जो भी असफलताएँ मिलती हैं, वे गत दुष्कर्मों के फलस्वरूप हैं; अतः वह किसी को दोष नहीं देता। उल्टे कष्टों के कारण अधिकाधिक विमल होकर वह भगवान् में आसक्त होता जाता है। अतः कष्टभोग भी पवित्र होने की विधि है।

इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है कि जिसने कृष्णभक्ति विकसित कर ली है और श्रीकृष्ण से प्रेम करना सीख लिया है उसे कर्म के नियमों के अन्तर्गत सुख तथा दुख नहीं सताते। निस्सन्देह वह कर्म से परे होता है। *ब्रह्म-संहिता* का कथन है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्*—भक्त कर्म-फल से इसलिए मुक्त हो जाता है क्योंकि वह भक्ति करता है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में भी हुई है—*स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते*—जो भक्ति में संलग्न है, वह पहले ही अपने कर्म के फल से मुक्त है, अतः वह तुरन्त ही ब्रह्म-भूत अर्थात् दिव्य हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.२१) में भी यह व्यक्त हुआ है—*क्षीयन्ते चास्य कर्माणि*—प्रेम दशा प्राप्त करने के पूर्व वह कर्म के समस्त फलों से मुक्त हो जाता है।

ईश्वर अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त दयालु एवं वत्सल हैं, फलतः भक्त को किसी भी दशा में कर्मफल नहीं भोगने पड़ते। भक्त कभी स्वर्ग की कामना नहीं करता। भक्त के लिए स्वर्ग, मुक्ति तथा नरक एकसमान हैं क्योंकि वह भौतिक संसार में विभिन्न अवस्थाओं के बीच भेद नहीं करता। वह भगवान् के धाम वापस जाने का सदैव आकांक्षी होता है और वहाँ ईश्वर का पार्षद बनना

चाहता है। यह अभिलाषा उसके हृदय में अत्यन्त उत्कट हो उठती है इसलिए इस जीवन में भौतिक परिवर्तनों की परवाह नहीं करता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि पार्वती द्वारा चित्रकेतु का शापित होना एक प्रकार से ईश्वर का अनुग्रह माना जाना चाहिए। भगवान् चाहते थे कि चित्रकेतु यथाशीघ्र उनके पास वापस आए, अतः उन्होंने उसके समस्त पूर्वकर्मों के बन्धनों को समाप्त कर दिया। प्रत्येक प्राणी के हृदय में वास करने वाले भगवान् ने पार्वती के हृदय से कार्य करके चित्रकेतु को शाप दिलाया जिससे उसके सारे भौतिक कर्म फल विनष्ट हो जाँए। इस प्रकार अगले जीवन में चित्रकेतु वृत्रासुर हुआ और भगवान् के धाम को वापस गया।

संसारचक्र एतस्मिञ्जन्तुरज्ञानमोहितः ।

भ्राम्यन्सुखं च दुःखं च भुङ्क्ते सर्वत्र सर्वदा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

संसार-चक्रे—इस संसार रूपी पहिए में; एतस्मिन्—यह; जन्तुः—जीवात्मा; अज्ञान-मोहितः—अज्ञान के कारण मोहग्रस्त; भ्राम्यन्—धूमता हुआ; सुखम्—सुख; च—तथा; दुःखम्—दुख; च—भी; भुङ्क्ते—भोगता है; सर्वत्र—सभी जगह; सर्वदा—सदैव।

अज्ञान से मोहग्रस्त होकर यह जीवात्मा इस संसार रूपी जंगल में भटकता रहता है और हर जगह तथा हर समय अपने पूर्वकर्मों के फलस्वरूप सुख तथा दुख पाता रहता है (अतः हे माता! इस घटना के लिए न आप दोषी हैं न मैं)।

तात्पर्य : भगवद्गीता (३.२७) में पुष्टि की गई है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

“सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पन्न होते हैं परन्तु गुणों से मोहग्रस्त जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मान बैठता है।” वस्तुतः बद्धजीव पूर्णतः भौतिक प्रकृति के वश में रहता है। हर समय यहाँ-वहाँ भटकते हुए उसे पूर्वकर्मों के फल भोगने होते हैं। यह सब प्रकृति के नियमों से घटित होता है, किन्तु मनुष्य मूर्खतावश अपने को कर्ता मान बैठता है, जो कि सत्य नहीं है। कर्म-

चक्र से छूटने के लिए भक्ति-मार्ग या कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए। यही एकमात्र उपाय है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

नैवात्मा न परश्चापि कर्ता स्यात्सुखदुःखयोः ।

कर्तारं मन्यतेऽत्राज्ञ आत्मानं परमेव च ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; न—न तो; परः—दूसरा (शत्रु या मित्र); च—भी; अपि—निस्सन्देह;
कर्ता—करने वाला; स्यात्—हो सकता है; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुख का; कर्तारम्—करनेवाला; मन्यते—मानता
है; अत्र—इस सम्बन्ध में; अज्ञः—मूर्ख; आत्मानम्—अपने आपको; परम्—अन्य; एव—निस्सन्देह; च—भी।

इस संसार में न तो स्वयं जीवात्मा और न पराये (मित्र तथा शत्रु) ही भौतिक सुख तथा दुख के कारण हैं। केवल अज्ञानतावश जीवात्मा यह सोचता है कि वह तथा पराये लोग इसके कारणस्वरूप हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में अज्ञ शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस संसार में सभी जीवात्माएँ थोड़ी बुहत अज्ञ हैं। यह अज्ञानता भौतिक प्रकृति द्वारा प्रस्तुत तमोगुण में अत्यन्त प्रबल रूप से चलती रहती है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने चरित्र तथा आचरण द्वारा सतोगुण को प्राप्त करके अधोक्षज पद पर पहुँचे जहाँ से उसे अपनी तथा अन्यो की स्थिति का ज्ञान होने लगता है। प्रत्येक कार्य भगवान् की अध्यक्षता में सम्पन्न होता है। जिस विधि से कर्मफल निश्चित होते हैं वह नियतम् (सदैव कार्यशील) कहलाता है।

गुणप्रवाह एतस्मिन्कः शापः को न्वनुग्रहः ।

कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

गुण-प्रवाहे—प्रकृति के गुणों की धारा में; एतस्मिन्—यह; कः—क्या; शापः—शाप; कः—क्या; नु—निस्सन्देह;
अनुग्रहः—कृपा; कः—क्या; स्वर्गः—स्वर्गलोक के पद तक पहुँचना; नरकः—नरक; कः—क्या; वा—अथवा; किम्—
क्या; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा।

यह संसार सतत प्रवाहमान् नदी की तरंगों के समान है, अतः इसमें क्या शाप और क्या अनुग्रह? क्या स्वर्गलोक और क्या नरकलोक? क्या सुख और क्या वास्तविक दुख?

निरन्तर प्रवाहित होते रहने के कारण तरंगों कोई शाश्वत प्रभाव नहीं छोड़तीं।

तात्पर्य : श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—(मिछे) मायार वशे, याच्छ भेसे, खाच्छ हाबुडुबु, भाइ—हे जीवात्माओ! इस संसार में भौतिक प्रकृति की गुणरूपी तरंगों में क्यों इधर उधर भटक रही हो? (जीव) कृष्णदास, एइ विश्वास, कर्ले त' आर दुःख नाइ—“यदि जीवात्मा यह समझ ले कि वह श्रीकृष्ण का शाश्वत दास है, तो किसी प्रकार का कष्ट न रह जाए।” श्रीकृष्ण चाहते हैं कि हम इस भौतिक संसार के समस्त व्यापारों को छोड़कर उनकी शरण में जाएँ। यदि हम ऐसा करें तो फिर इस संसार के कार्य-कारण कहाँ रहेंगे? शरणागत जीव के लिए कार्य-कारण जैसी कोई वस्तु नहीं रह जाती। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कहना है कि इस संसार में भेजा जाना वैसा ही है जैसे कि नमक की खान में फेंका जाना। नमक की खान में गिरे हुए व्यक्ति को चारों ओर नमक ही चखने को मिलता है। इसी प्रकार यह संसार दुखों से पूर्ण है। इस संसार का तथाकथित क्षणिक सुख भी एक प्रकार से दुख ही होता है, किन्तु अज्ञानतावश हम इसे समझ नहीं पाते। यही वास्तविकता है। जब मनुष्य को चेत होता है अर्थात् जब उसे कृष्ण-चेतना होती है, तो उसे इस संसार की विभिन्न स्थितियों से कोई सरोकार नहीं रह जाता। उसे सुख-दुख, शाप-कृपा या स्वर्ग-नरक से कोई प्रयोजन नहीं रहता है। उसे इनमें कोई अन्तर नहीं दिखता।

एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया ।

एषां बन्धं च मोक्षं च सुखं दुःखं च निष्कलः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; सृजति—उत्पन्न करता है; भूतानि—विभिन्न प्रकार की जीवात्माओं को; भगवान्—श्रीभगवान्; आत्म-मायया—आत्म स्वरूप शक्तियों से; एषाम्—समस्त बद्धजीवों का; बन्धम्—बद्ध जीवन; च—तथा; मोक्षम्—मुक्त जीवन; च—भी; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; च—तथा; निष्कलः—भौतिक गुणों से अप्रभावित।

श्रीभगवान् एक हैं। वे भौतिक जगत की स्थितियों से प्रभावित हुए बिना आत्मस्वरूप शक्ति से समस्त जीवों की सृष्टि करते हैं। माया से दूषित होकर जीवात्मा अविद्या को प्राप्त

होता है और अनेक प्रकार के बन्धनों में जा पड़ता है। कभी-कभी ज्ञान के कारण जीवात्मा को मुक्ति दी जाती है। सत्त्व तथा रजो गुणों के कारण उसे सुख तथा दुख मिलते हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जीवात्माएँ विभिन्न स्थितियों में क्यों रहती हैं और ऐसा कौन करता है? इसका उत्तर यही है कि भगवान् अकेले ही बिना किसी की सहायता के यह सब करते हैं। ईश्वर की अपनी शक्तियाँ हैं (परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते) और इनमें से उनकी बहिरंगा शक्ति के द्वारा यह जगत एवं बद्धजीवों के नाना प्रकार के सुख-दुख भगवान् की अध्यक्षता में उत्पन्न होते हैं। यह संसार तीन प्रकार के गुणों से युक्त है—सत्त्व गुण, रजोगुण तथा तमो गुण। भगवान् सत्त्व गुण से संसार का पालन, रजोगुण से उसकी उत्पत्ति और तमोगुण से उसका संहार करते हैं। जीवात्माओं की उत्पत्ति के पश्चात् उनको सुख तथा दुख इन गुणों के संयोग से प्राप्त होते हैं। जब जीवात्माएँ सत्त्व गुण में होती हैं, तो वे सुख का अनुभव करती हैं, रजोगुण में दुख का और तमोगुण में उन्हें इसका ज्ञान ही नहीं रह जाता कि करना क्या है अथवा अच्छा-बुरा होता क्या है।

न तस्य कश्चिद्दयितः प्रतीपो

न ज्ञातिबन्धुर्न परो न च स्वः ।

समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य

सुखे न रागः कुत एव रोषः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तस्य—उस (परमेश्वर) का; कश्चित्—कोई; दयितः—प्रिय; प्रतीपः—अप्रिय; न—नहीं; ज्ञाति—परिजन; बन्धुः—मित्र; न—नहीं; परः—पराया; न—नहीं; च—भी; स्वः—अपना; समस्य—समानधर्मा; सर्वत्र—सभी जगह; निरञ्जनस्य—प्रकृति द्वारा अप्रभावित; सुखे—सुख में; न—नहीं; रागः—आसक्ति; कुतः—कहाँ से; एव—निस्सन्देह; रोषः—क्रोध।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त जीवों को एकसमान देखते हैं; अतः न तो कोई उनका अत्यन्त प्रिय है, न कोई शत्रु; न तो उनका कोई मित्र है न कोई परिजन। इस भौतिक जगत से अनासक्त होने के कारण उन्हें तथाकथित सुख के लिए न तो कोई स्नेह है, न दुख के

लिए किसी प्रकार की घृणा। सुख तथा दुख सापेक्ष हैं। भगवान् सदैव प्रसन्न रहने वाले हैं, अतः उनके लिए दुख का कोई अर्थ नहीं है।

तथापि तच्छक्तिविसर्ग एषां
सुखाय दुःखाय हिताहिताय ।
बन्धाय मोक्षाय च मृत्युजन्मनोः
शरीरिणां संसृतयेऽवकल्पते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तथापि—तो भी; तत्-शक्ति—ईश्वर की शक्ति का; विसर्गः—सृष्टि; एषाम्—इन सबों (बद्धजीवों) का; सुखाय—सुख के लिए; दुःखाय—दुख के लिए; हित-अहिताय—लाभ तथा हानि के लिए; बन्धाय—बन्धन के लिए; मोक्षाय—मुक्ति के लिए; च—भी; मृत्यु—मृत्यु; जन्मनोः—तथा जन्म का; शरीरिणाम्—समस्त देहधारियों का; संसृतये—आवागमन के लिए; अवकल्पते—कर्म करता है।

यद्यपि परमेश्वर कर्म के अनुसार प्राप्त होने वाले हमारे सुख दुख से अनासक्त हैं और कोई भी उनका शत्रु या मित्र नहीं है, तो भी वे अपनी भौतिक शक्ति (माया) के द्वारा शुभ तथा अशुभ कर्मों की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार भौतिक जीवन को चालू रखने के लिए वे सुख-दुख, लाभ-हानि, बन्धन-मोक्ष, जन्म-मृत्यु की सृष्टि करते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि श्रीभगवान् अपनी आदि दिव्य स्थिति में प्रत्येक वस्तु के कर्ता हैं, किन्तु अपनी भौतिक स्थिति में, बद्धजीवों के सुख-दुख अथवा बन्धन-मोक्ष के लिए वे उत्तरदायी नहीं हैं। ये तो उन बद्धजीवों के सकाम कर्मों के फल के अनुसार प्राप्त होते हैं। न्यायमूर्ति की आज्ञा से एक व्यक्ति बन्दीगृह से छूटता है और दूसरा बन्दी बनाया जाता है, किन्तु इन लोगों के सुख, दुख के लिए वह न्यायमूर्ति उत्तरदायी नहीं होता। इन लोगों के सुख-दुख तो उनके अपने कर्मों के परिणाम होते हैं। यद्यपि सर्वोपरि सत्ता शासन (राज्य) ही होती है, किन्तु न्याय तो सरकार के विभिन्न विभागों को सौंपा रहता है, अतः व्यक्तिगत न्याय के लिए राज्य उत्तरदायी नहीं रहता। इस प्रकार राजसत्ता सभी नागरिकों के लिए एकसमान है। इसी प्रकार परमेश्वर भी निरपेक्ष (उदासीन) हैं, किन्तु उन्होंने न्याय तथा व्यवस्था के लिए कई विभाग बना रखे हैं, जो जीवात्माओं की

गतिविधियों पर नियंत्रण रखते हैं। इस प्रसंग में एक अन्य उदाहरण कमलिनी तथा भौरों का है। जिस प्रकार कमलिनीयाँ सूर्य प्रकाश से खिलती या बन्द होती हैं, तो उससे भौरों को सुख या दुख का अनुभव होता है, किन्तु इसके लिए सूर्य या सूर्य प्रकाश उत्तरदायी नहीं होता।

अथ प्रसादये न त्वां शापमोक्षाय भामिनि ।

यन्मन्यसे ह्यसाधूक्तं मम तत्क्षम्यतां सति ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; प्रसादये—प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहा हूँ; न—नहीं; त्वाम्—तुमको; शाप-मोक्षाय—शाप से मुक्ति पाने के लिए; भामिनि—हे क्रुद्धा; यत्—जो; मन्यसे—तुम मान लो; हि—निस्सन्देह; असाधु-उक्तम्—अनुचित बात; मम—मेरी; तत्—वह; क्षम्यताम्—क्षमा करें; सति—हे सती!.

हे माता! आप अब वृथा ही क्रुद्ध हैं। चूँकि मेरे समस्त सुख-दुख मेरे पूर्वकर्मों के द्वारा सुनिश्चित हैं, अतः मैं न तो क्षमा-प्रार्थी हूँ और न आपके शाप से मुक्त होना चाहता हूँ। यद्यपि मैंने जो कुछ कहा है अनुचित नहीं है, किन्तु जो कुछ आप अनुचित समझती हों उसके लिए क्षमा करें।

तात्पर्य : चित्रकेतु को यह भलीभाँति ज्ञात था कि प्रकृति के नियमों से कर्मों के फल प्राप्त होते हैं, अतः वह पार्वती के शाप से मुक्त नहीं होना चाहता था। तो भी वह उन्हें संतुष्ट करना चाहता था क्योंकि उसने कहा था उसके कथन के स्वाभाविक होने पर भी वे उससे रुष्ट थीं। अतः शिष्टाचार के नाते महाराज चित्रकेतु ने पार्वती से क्षमायाचना की।

श्रीशुक उवाच

इति प्रसाद्य गिरिशौ चित्रकेतुररिन्दम ।

जगाम स्वविमानेन पश्यतोः स्मयतोस्तयोः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रसाद्य—प्रसन्न करके; गिरिशौ—भगवान् शिव तथा उनकी पत्नी पार्वती को; चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु; अरिम्-दम—शत्रुओं को दमन करने में समर्थ हे राजा परीक्षित; जगाम—चला गया; स्व-विमानेन—अपने विमान द्वारा; पश्यतोः—देखते देखते; स्मयतोः—हँसते हुए; तयोः—भगवान् शिव तथा पार्वती दोनों के।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे शत्रुओं को दमन करने वाले राजा परीक्षित!

शिवजी तथा पार्वती को प्रसन्न करने के बाद चित्रकेतु अपने विमान पर बैठ गये और उनके देखते-देखते प्रस्थान कर गये। जब शिवजी तथा पार्वती ने देखा कि शापित होने पर भी चित्रकेतु निर्भय था, तो वे उसके आचरण पर विस्मित होकर हँस पड़े।

ततस्तु भगवान् रुद्राणीमिदमब्रवीत् ।
देवर्षिदैत्यसिद्धानां पार्षदानां च शृण्वताम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; तु—तब; भगवान्—सर्वशक्तिमान्; रुद्रः—भगवान् शिव ने; रुद्राणीम्—अपनी पत्नी पार्वती से; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा; देवर्षि—जबकि परम साधु नारद; दैत्य—असुरों; सिद्धानाम्—तथा योगशक्ति में पटु सिद्धलोक के वासियों के; पार्षदानाम्—अपने निजी सहयोगियों के; च—भी; शृण्वताम्—सुन रहे थे।

तत्पश्चात् परमसाधु नारद, असुरों, सिद्धलोक के वासियों तथा अपने व्यक्तिगत सहयोगियों के समक्ष सर्वशक्तिमान् भगवान् शिव अपनी पत्नी पार्वती से बोले और वे सब सुनते रहे।

श्रीरुद्र उवाच

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः ।
माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

श्री-रुद्रः उवाच—शिवजी ने कहा; दृष्टवती असि—क्या तुमने देखा; सु-श्रोणि—हे सुन्दरी पार्वती; हरेः—श्रीभगवान् के; अद्भुत-कर्मणः—विस्मयपूर्ण कार्य; माहात्म्यम्—महानता; भृत्य-भृत्यानाम्—दासानुदासों की; निःस्पृहाणाम्—इन्द्रियतृप्ति की आकांक्षा से रहित; महात्मनाम्—महान् पुरुषों का।

शिवजी ने कहा—हे सुन्दरी! तुमने वैष्णवों की महानता देख ली? श्रीभगवान् हरि के दासानुदास होकर वे महान् पुरुष होते हैं और किसी प्रकार के सांसारिक सुख में रुचि नहीं रखते।

तात्पर्य : पार्वती-पति भगवान् शिव ने अपनी पत्नी से कहा, “हे पार्वती! तुम अत्यन्त सुन्दर शरीर वाली हो, निस्सन्देह, तुम यशस्वी भी हो, किन्तु मेरा विचार है कि तुम श्रीभगवान् के दासानुदास भक्तों की सुन्दरता तथा महिमा की बराबरी नहीं कर सकतीं।” निस्सन्देह, जब वे

अपनी पत्नी के साथ ऐसा परिहास कर रहे थे तो मुसका रहे थे क्योंकि कोई दूसरा ऐसा नहीं कह सकता था। शिवजी ने आगे कहा, “परमेश्वर के कार्य महान् होते हैं और अपने भक्त चित्रकेतु पर उनके विचित्र प्रभाव का यह दूसरा उदाहरण है। देखो न, तुमने इस राजा को शाप दिया है, किन्तु न तो वह भयभीत हुआ, न ही दुखी है। उल्टे, उसने तुम्हारा सम्मान किया, तुम्हें माता कहकर सम्बोधित किया और अपने को दोषी मानकर तुम्हारे शाप को अंगीकार कर लिया। उसने प्रतिकार में कुछ भी नहीं कहा। यही भक्त की श्रेष्ठता है। तुम्हारे शाप को विनम्रतापूर्वक सहन करके उसने तुम्हारी सुन्दरता तथा तुम्हारी शाप-शक्ति की महिमा को मात कर दिया है। मैं निष्पक्ष होकर यह कह सकता हूँ कि चित्रकेतु ने ईश्वर का भक्त होने के कारण ही तुम्हें तथा तुम्हारी श्रेष्ठता को पराजित कर दिया है।” जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*तरोरपि सहिष्णुना*—अर्थात् भक्त वृक्ष के समान समस्त शापों तथा विफलताओं को सहन कर सकता है। भक्त की यही श्रेष्ठता है। अप्रत्यक्ष रूप से शिवजी ने पार्वती को भविष्य में चित्रकेतु जैसे भगवद्भक्त को शाप देने की भूल न करने के लिए आगाह किया। उन्होंने संकेत किया कि यद्यपि तुम शक्तिमान हो, किन्तु राजा चित्रकेतु अपनी शक्ति का प्रदर्शन किये बिना ही अपनी सहिष्णुता के कारण तुमसे आगे निकल गया है।

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

नारायण-पराः—जो केवल नारायण की सेवा में रुचि रखते हैं, शुद्ध भक्त; सर्वे—समस्त; न—नहीं; कुतश्चन—कहीं भी; बिभ्यति—डरते हैं; स्वर्ग—स्वर्ग लोक; अपवर्ग—मुक्ति; नरकेषु—तथा नरक में; अपि—भी; तुल्य—समान; अर्थ—महत्त्व; दर्शिनः—देखने वाले।

पूरी तरह से भगवान् नारायण की सेवा में लीन रहने वाले भक्तजन जीवन की किसी भी अवस्था से भयभीत नहीं होते। उनके लिए स्वर्ग, मुक्ति तथा नरक एकसमान हैं क्योंकि ऐसे भक्त ईश्वर की सेवा में ही रुचि रखते हैं।

तात्पर्य : यह स्वाभाविक है कि पार्वती ने पूछा हो कि भक्त इतने महान् कैसे बनते हैं ? अतः इस श्लोक में बताया गया है कि भक्तलोग *नारायण-पर* होते हैं। वे जीवन की विफलताओं की परवाह नहीं करते क्योंकि नारायण की सेवा करते हुए उन्होंने सभी प्रकार के कष्टों को झेलने की शिक्षा पाई है। उन्हें इसकी परवाह नहीं रहती कि वे स्वर्ग में हैं या नरक में, वे केवल ईश्वर की सेवा करते रहते हैं। यही उनकी श्रेष्ठता है। *आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*—वे मुक्त रूप से ईश्वर की सेवा में प्रवृत्त होते हैं, अतः वे श्रेष्ठ हैं। भगवान् शिव ने *भृत्य-भृत्यानाम्* शब्द का व्यवहार करके यह संकेत किया है कि यद्यपि चित्रकेतु ने सहिष्णुता तथा श्रेष्ठता का यह आदर्श उपस्थित किया है, किन्तु जितने भी भक्तों ने भगवान् की शरण ग्रहण कर रखी है वे सभी यशस्वी (महिमामय) हैं। उन्हें इसकी तनिक भी इच्छा नहीं कि वे स्वर्ग में रहकर सुखी बनें और मुक्त होकर परम तेजोमय ब्रह्म से एकाकार हो लें। ऐसे लाभ उनको नहीं भाते। वे तो भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा करना चाहते हैं।

देहिनां देहसंयोगाद्द्वन्द्वानीश्वरलीलया ।

सुखं दुःखं मृतिर्जन्म शापोऽनुग्रह एव च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

देहिनाम्—देहधारी व्यक्तियों का; देह-संयोगात्—भौतिक देह के सम्पर्क से; द्वन्द्वानि—द्वैत भावनाएँ; ईश्वर-लीलया—ईश्वर की परम इच्छा से; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; मृतिः—मृत्यु; जन्म—जन्म; शापः—शाप; अनुग्रहः—कृपा; एव—निश्चय ही; च—तथा ।

परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति के कार्यों के कारण जीवात्माएँ भौतिक देह के सम्पर्क में बद्ध हैं। सुख तथा दुख, जन्म तथा मृत्यु, शाप तथा अनुग्रह के द्वैतभाव संसार के सम्पर्क के सहज गौण फल हैं।

तात्पर्य : हम *भगवद्गीता* में पाते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—यह संसार ईश्वर की भौतिक शक्ति देवी दुर्गा के निर्देशानुसार कार्य करती है, जबकि देवी दुर्गा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के निर्देश से कार्य करती हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.४४) में भी हुई है—

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका

छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा ।

दुर्गा अर्थात् शिवजी की पत्नी पार्वती अत्यन्त शक्तिमान हैं। वे अपनी इच्छा से अनेक ब्रह्माण्डों की सृष्टि, पालन एवं लय कर सकती हैं। किन्तु वे भगवान् श्रीकृष्ण के ही निर्देश पर कार्य करती हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। श्रीकृष्ण निष्पक्ष हैं, किन्तु यह संसार द्वैतपूर्ण है, अतः सुख-दुख, शाप-अनुग्रह जैसे सापेक्ष पद की इच्छा ईश्वर द्वारा सृजित हैं। वे जो नारायण-पर अर्थात् शुद्ध भक्त नहीं हैं, वे संसार की इस द्वैतता से विचलित होते हैं, किन्तु ईश्वर में निरन्तर अनुरक्त रहने के कारण भक्त उससे तनिक भी विचलित नहीं होते। उदाहरणार्थ, हरिदास ठाकुर को बाइस बाजार में बेतों से पीटा गया, किन्तु वे तनिक भी विचलित नहीं हुए, उल्टे वे हँसते हुए इस पिटाई को सहते रहे। संसार की विचलनकारी द्वैतताओं के होते हुए भी भक्त कभी विचलित नहीं होते। चूँकि वे अपने मन को भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रखते हैं और उनके पवित्र नाम में केन्द्रित रहते हैं अतः उन्हें इस द्वैतता से उत्पन्न होने वाले तथाकथित दुख तथा आनन्द का अनुभव नहीं होता।

अविवेककृतः पुंसो ह्यर्थभेद इवात्मनि ।

गुणदोषविकल्पश्च भिदेव स्रजिवत्कृतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अविवेक-कृतः—अज्ञानता में किया गया; पुंसः—जीवात्मा का; हि—निस्सन्देह; अर्थ-भेदः—महत्त्व का अन्तर; इव—के सदृश; आत्मनि—अपने आप में; गुण-दोष—गुण तथा दोष का; विकल्पः—कल्पना; च—तथा; भित्—अन्तर; एव—निश्चय ही; स्रजि—माला में; वत्—सदृश; कृतः—बनी हुई।

जिस प्रकार मनुष्य फूलमाला को सर्प समझ बैठता है अथवा स्वप्न में सुख तथा दुख का अनुभव करता है उसी प्रकार भौतिक संसार में सुविचार के अभाव में हम सुख तथा दुख में एक को अच्छा तथा दूसरे को बुरा समझ कर विभेद करते हैं।

तात्पर्य : द्वैतमय जगत के सुख तथा दुख दोनों ही भ्रामक धारणाएँ हैं। श्रीचैतन्य-चरितामृत

(अन्त्य ४.१७६) में कहा गया है—

“द्वैते” भद्राभद्रज्ञान, सब—“मनोधर्म”।

एइ भाल, एइ मन्द, ”—एइ सब “भ्रम”॥

द्वैतपूर्ण जगत में सुख तथा दुख का अन्तर मात्र मनोरथ होता है क्योंकि तथाकथित सुख तथा दुख वास्तव में एक ही हैं। वे स्वप्न में भोगे सुख तथा दुख के तुल्य हैं। सुप्त मनुष्य स्वप्न में सुख-दुख की सृष्टि कर लेता है यद्यपि इनका अस्तित्व होता है।

इस श्लोक में दूसरा उदाहरण फूल की माला का है, जो मूलतः अत्यन्त सुन्दर होती है, किन्तु भ्रमवश तथा प्रौढ़ ज्ञान के अभाव में मनुष्य उसे साँप समझ बैठता है। इस प्रसंग में प्रबोधानन्द सरस्वती का कथन—*विश्वं पूर्ण-सुखायते*—लागू होता है। इस भौतिक संसार में प्रत्येक मानव संकट-पूर्ण स्थितियों से दुखी है किन्तु प्रबोधानन्द सरस्वती कहते हैं कि यह संसार सुख से पूर्ण है। यह कैसे सम्भव है? इसका उत्तर वे इस प्रकार देते हैं—*यत्-कारुण्य-कटाक्ष-वैभवतां तं गौरमेव स्तुमः*। भक्त श्री चैतन्य महाप्रभु की अहैतुकी कृपा के कारण ही इस संसार के दुख को सुख मान लेता है। उन्होंने स्वयं यह दिखा दिया कि हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करते हुए वे सदैव प्रसन्न रहे, उन्हें कोई कष्ट नहीं मिला। मनुष्य को चाहिए कि उन्हीं के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए निरन्तर *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस महामंत्र का कीर्तन करे। तब उसे इस संसार की द्वैतता से कष्ट नहीं पहुँचेगा। चाहे जिस स्थिति में वह रहे, ईश्वर के पवित्र नाम के जप से वह प्रसन्न रहेगा।

अपने स्वप्नों में हम कभी खीर खाने का आनन्द उठाते हैं, तो कभी ऐसा लगता है मानों हमारे परिवार का कोई प्रिय सदस्य मर गया है। चूँकि जाग्रत अवस्था में वही मन तथा वही शरीर उसी द्वैतपूर्ण संसार में रहते हैं, अतः संसार के तथाकथित सुख तथा दुख स्वप्न के काल्पनिक तथा ऊपरी सुख से श्रेष्ठ नहीं हैं। स्वप्न तथा जागृति दोनों में मन ही कार्य करता है और मन के संकल्प तथा विकल्प से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु मनोधर्म कहलाती है।

वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्रहतां नृणाम् ।

ज्ञानवैराग्यवीर्याणां न हि कश्चिद्व्यपाश्रयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—भगवान् वासुदेव, कृष्ण में; भगवति—भगवान्; भक्तिम्—भक्ति में प्रेम तथा श्रद्धा; उद्रहताम्—धारण करने वालों के लिए; नृणाम्—मनुष्यों का; ज्ञान-वैराग्य—वास्तविक ज्ञान तथा विरक्ति का; वीर्याणाम्—शक्तिमान; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; कश्चित्—कुछ भी; व्यपाश्रयः—शरण के रूप में।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव कृष्ण की भक्ति में अनुरक्त व्यक्ति स्वभावतः परम ज्ञानी तथा इस संसार से विरक्त रहने वाले होते हैं। अतः ऐसे भक्त न तो इस संसार के तथाकथित सुख में न ही तथाकथित दुख में कोई रुचि रखते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर एक भक्त तथा दिव्य विषय पर मनन करने वाले दार्शनिक का अन्तर दिखाया गया है। भक्त को इस संसार की असत्यता या विनश्वरता को समझने के लिए ज्ञान का अनुशीलन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वासुदेव में विशुद्ध भक्ति के कारण उसमें यह ज्ञान तथा विरक्ति स्वतः प्रकट होती है। अन्यत्र श्रीमद्भागवत (१.२.७) में इसकी पुष्टि की गई है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

जो मनुष्य वासुदेव कृष्ण की शुद्ध भक्ति में अनुरक्त होता है, वह स्वतः इस संसार से अवगत हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह स्वभावतः विरक्त हो जाता है। यह विरक्ति उसके उच्च ज्ञान से ही सम्भव है। चिन्तनशील दार्शनिक ज्ञान के अनुशीलन से यह समझने का प्रयास करता है कि यह संसार मिथ्या है, किन्तु भक्त में बिना किसी प्रयास के यह ज्ञान स्वतः प्रकट होता है। मायावादी चिन्तक अपने तथाकथित ज्ञान पर गुमान कर सकते हैं किन्तु वासुदेव को न समझने के कारण (वासुदेवः सर्वम् इति) वे संसार की द्वैतता को नहीं समझ पाते क्योंकि यह वासुदेव की बहिरंगा शक्ति का प्राकट्य है। अतः जब तक तथाकथित ज्ञानी वासुदेव की शरण में नहीं जाते तब तक उनका चिन्तनशील ज्ञान अधूरा रहता है। येऽन्येरविन्दाक्ष विमुक्ति-मानिनः—वे वासुदेव के चरणकमलों की शरण में गये बिना सांसारिक कलुष से मुक्त होना चाहते हैं किन्तु वे वासुदेव के

चरणकमलों में शरण नहीं लेते हैं, अतः उनका ज्ञान अशुद्ध है। वे जब सचमुच शुद्ध हो जाते हैं, तो वासुदेव की शरण ग्रहण करते हैं अतः ज्ञानी की अपेक्षा भक्त के लिए परम सत्य को समझ पाना सुगम है क्योंकि ज्ञानी वासुदेव को समझने के लिए मात्र चिन्तन करते हैं। शिवजी ने इस कथन की पुष्टि अगले श्लोक में की है।

नाहं विरिञ्चो न कुमारनारदौ
 न ब्रह्मपुत्रा मुनयः सुरेशाः ।
 विदाम यस्येहितमंशकांशका
 न तत्स्वरूपं पृथगीशमानिनः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं (शिव); विरिञ्चः—ब्रह्माजी; न—नहीं; कुमार—अश्विनीकुमार; नारदौ—देवर्षि नारद; न—नहीं; ब्रह्म-पुत्राः—भगवान् ब्रह्मा के पुत्र; मुनयः—परम साधु पुरुष; सुर-ईशाः—समस्त देवता; विदाम—जानते हैं; यस्य—जिसका; ईहितम्—गतिविधि; अंशक-अंशकाः—अंशों के भी अंश; न—नहीं; तत्—उसका; स्व-रूपम्—वास्तविक व्यक्तित्व; पृथक्—भिन्न; ईश—राजा; मानिनः—मान बैठे हैं।

न तो मैं (शिव), न ब्रह्मा या अश्विनीकुमार, न ही नारद या ब्रह्मा के अन्य साधु-पुत्र और न देवता ही परमेश्वर की लीलाओं को तथा उनके स्वरूप को समझ सकते हैं। भगवान् के अंश होते हुए भी हम अपने को स्वतंत्र तथा पृथक् शासक (नियन्ता) मान बैठते हैं जिससे हम उनके स्वरूप को नहीं समझ सकते।

तात्पर्य : ब्रह्म-संहिता (५.३३) का कहना है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्
 आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च ।
 वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ
 गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द की उपासना करता हूँ जो आदि पुरुष हैं, परम अच्युत अनादि, अनन्त रूपों में विस्तार करते हुए भी वही आदि, पुरातन तथा नवयौवन से पूर्ण पुरुष हैं।

ऐसे नित्य, आनन्दमय तथा सर्वज्ञ ईश्वर को सर्वोत्तम वेदज्ञानी भी नहीं जान पाते, वे तो शुद्ध भक्तों के ही समक्ष सदैव प्रकट होते हैं।” शिवजी अपने को एक ऐसा अभक्त बताते हैं, जो भगवान् के स्वरूप को नहीं समझ सकता। भगवान् अनन्त होने के कारण असंख्य ‘रूपों’ वाले हैं। तो भला सामान्य पुरुष उन्हें कैसे समझ सकता है? शिवजी निस्सन्देह सामान्य पुरुषों से ऊपर हैं, किन्तु वे भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ पाते। शिव न तो सामान्य जीवों की श्रेणी में आते हैं न ही भगवान् विष्णु की श्रेणी में। वे सामान्य पुरुषों तथा भगवान् विष्णु दोनों के मध्य में हैं।

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा ।

आत्मत्वात्सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अस्य—ईश्वर का; अस्ति—है; प्रियः—अत्यन्त प्यारा; कश्चित्—कोई; न—नहीं; अप्रियः—जो प्रिय न हो; स्वः—अपना; परः—पराया; अपि—भी; वा—या; आत्मत्वात्—आत्मा की भी आत्मा होने से; सर्व-भूतानाम्—सभी जीवात्माओं का; सर्व-भूत—सभी जीवात्माओं के लिए; प्रियः—अत्यधिक प्रिय; हरिः—भगवान् हरि।

भगवान् को न कोई अति प्रिय है और न कोई अप्रिय। उनके न तो कोई स्वजन है और न कोई पराया है। वे वास्तव में समस्त जीवों के आत्मा के आत्मा हैं। इस प्रकार वे समस्त जीवों के कल्याणकारी मित्र तथा उन सबों के अत्यन्त प्रिय हैं।

तात्पर्य : श्रीभगवान् का दूसरा स्वरूप समस्त जीवात्माओं का परम आत्मा है। जिस प्रकार ‘स्व’ अत्यन्त प्रिय होता है उसी ‘स्व’ का परम ‘स्व’ और भी अधिक प्रिय होता है। प्रत्येक के लिए समान मित्रवत् परमात्मा का कोई भी शत्रु नहीं हो सकता। भगवान् तथा जीवात्माओं के बीच शत्रुता या मित्रता का भाव माया के बीच में आ जाने के कारण है। चूंकि भौतिक प्रकृति के तीन प्रकार के गुण यह हस्तक्षेप करते हैं जिसके कारण भिन्न-भिन्न सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं। वास्तव में शुद्ध जीवात्मा सदैव ईश्वर को अत्यन्त प्रिय है और उसे भी ईश्वर प्रिय होता है। पक्षपात अथवा शत्रुता का प्रश्न नहीं उठता।

तस्य चायं महाभागश्चित्रकेतुः प्रियोऽनुगः ।
 सर्वत्र समदृक्शान्तो ह्यहं चैवाच्युतप्रियः ॥ ३४ ॥
 तस्मान्न विस्मयः कार्यः पुरुषेषु महात्मसु ।
 महापुरुषभक्तेषु शान्तेषु समदर्शिषु ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (ईश्वर) का; च—तथा; अयम्—यह; महा-भागः—परम भाग्यशाली; चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु; प्रियः—
 प्यारा; अनुगः—आज्ञापालक सेवक; सर्वत्र—सभी जगह; सम-दृक्—समान दृष्टि; शान्तः—अत्यन्त शांत; हि—निस्सन्देह;
 अहम्—मैं; च—भी; एव—निश्चय ही; अच्युत-प्रियः—कभी न चूकने वाले भगवान् कृष्ण को प्रिय; तस्मात्—अतः;
 न—नहीं; विस्मयः—आश्चर्य; कार्यः—करणीय, कार्य; पुरुषेषु—पुरुषों में से; महा-आत्मसु—जो महात्मा है; महा-पुरुष-
 भक्तेषु—भगवान् विष्णु के भक्त; शान्तेषु—शान्त; सम-दर्शिषु—सम-दर्शियों में, सबको समान मानने वाले।

यह परम उदार चित्रकेतु ईश्वर का प्रिय भक्त है। यह सभी जीवों का समदर्शी है और
 आसक्ति तथा घृणा से मुक्त है। इसी प्रकार मैं भी भगवान् नारायण का परम प्रिय हूँ, अतः
 नारायण के उच्च भक्तों की गतिविधियों को देखकर चकित नहीं होना चाहिए क्योंकि वे
 आसक्ति तथा द्वेष से मुक्त रहते हैं। वे सदैव शान्त रहते हैं और समदर्शी होते हैं।

तात्पर्य : कहा गया है कि वैष्णवेर क्रिया, मुद्रा विज्ञेय ना बुझय—“परम मुक्त वैष्णवों की
 गतिविधियों को देखकर किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए।” किसी को भगवान् की
 गतिविधियों तथा भक्तों की गतिविधियों को देखकर गुमराह नहीं होना चाहिए। ईश्वर तथा उनके
 भक्त दोनों ही मुक्त हैं। वे समान स्तर पर हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि ईश्वर स्वामी हैं और
 भक्तजन दास। गुणात्मक रूप से वे एक ही हैं। भगवद्गीता (९.२९) में भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

“मैं न तो किसी से द्वेष करता हूँ और न पक्षपात; जीव मात्र में मेरा समभाव है। परन्तु जो
 प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे मित्र मुझमें ही स्थित हैं। और मैं भी उनका मित्र हूँ।
 ” भगवान् के इस कथन से स्पष्ट है कि भगवान् को उनके भक्त सदैव अत्यन्त प्रिय हैं। वास्तव में
 शिव ने पार्वती से यह कहा, “चित्रकेतु तथा मैं दोनों ही भगवान् को परम प्रिय हैं अर्थात् हम दास
 रूप में समान स्तर पर हैं; हम एक दूसरे के सखा हैं और कभी कभी परिहास भी कर लेते हैं। जब

चित्रकेतु मेरे व्यवहार पर जोर से हँसा तो वास्तव में मित्र होने के नाते उसने ऐसा किया, अतः उसे शाप देने की कोई आवश्यकता न थी।” इस प्रकार शिवजी ने अपनी पत्नी पार्वती को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि चित्रकेतु को शाप देकर उन्होंने अच्छा नहीं किया।

जीवन के उच्च स्तर पर भी स्त्री तथा पुरुष में भेद हैं, यहाँ तक कि भगवान् शिव तथा पार्वती में भी। शिवजी तो चित्रकेतु को ठीक से जान पाये किन्तु पार्वती नहीं जान पाई। अतः जीवन के उच्च स्तरों में भी पुरुष और स्त्री की समझ में अन्तर होता है। यह स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि स्त्री की समझ पुरुष से निम्न कोटि की होती है। अब पाश्चात्य देशों में स्त्री तथा पुरुष को समान मानने के लिए आन्दोलन किया जा रहा है, किन्तु इस श्लोक से पता चलता है कि स्त्री सदैव पुरुष की अपेक्षा कम बुद्धिमान होती है।

यह स्पष्ट है कि चित्रकेतु अपने मित्र शिव की आलोचना इसलिए करना चाहते थे क्योंकि वे अपनी पत्नी को गोद में बैठाये हुए थे। शिव भी चित्रकेतु की आलोचना करना चाहते थे क्योंकि ऊपर से वे महान् भक्त थे और भीतर भीतर विद्याधर लोक की स्त्रियों के साथ सुखोपभोग में रुचि दिखा रहे थे। ये तो मित्रों के पारस्परिक हास-परिहास थे, इसमें चित्रकेतु को पार्वती द्वारा शाप दिये जाने का कोई कारण न था। शिवजी के उपदेश को सुनकर पार्वती अवश्य ही लज्जित हुई होंगी कि उन्होंने चित्रकेतु को असुर बनने का शाप क्यों दिया? माता पार्वती चित्रकेतु की स्थिति नहीं समझ पाई थीं अतः उन्होंने शाप दे दिया। किन्तु शिवजी के वचनों को समझने के बाद वे लज्जित हुईं।

श्रीशुक उवाच

इति श्रुत्वा भगवतः शिवस्योमाभिभाषितम् ।

बभूव शान्तधी राजन्देवी विगतविस्मया ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; श्रुत्वा—सुनकर; भगवतः—अत्यन्त शक्तिमान् देवता; शिवस्य—शिव का; उमा—पार्वती; अभिभाषितम्—भाषण; बभूव—हो गई; शान्त-धीः—अत्यन्त शान्त; राजन्—हे राजा परीक्षित; देवी—देवी; विगत-विस्मया—आश्चर्य से मुक्त ।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे राजन्! अपने पति से यह संभाषण सुनकर देवी उमा (शिव की पत्नी) को राजा चित्रकेतु के व्यवहार पर जो विस्मय उत्पन्न हुआ था वह जाता रहा और उनकी बुद्धि स्थिर हो गई ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार शान्त-धीः शब्द का अर्थ स्वीय-पूर्व-स्वभाव-स्मृत्या है। जब पार्वती ने चित्रकेतु को शाप देने वाले अपने पूर्व आचरण का स्मरण किया, तो वे अत्यन्त लज्जित हुईं और उन्होंने अपने मुख को साड़ी के छोर से ढक लिया। उन्होंने स्वीकार किया कि चित्रकेतु को शाप देकर उन्होंने त्रुटि की है।

इति भागवतो देव्याः प्रतिशप्तुमलन्तमः ।

मूर्ध्ना स जगृहे शापमेतावत्साधुलक्षणम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; भागवतः—परम भक्त; देव्याः—देवी पार्वती का; प्रतिशप्तुम्—बदले में शाप देने; अलन्तमः—समर्थ; मूर्ध्ना—सिर से; सः—वह (चित्रकेतु); जगृहे—स्वीकार किया; शापम्—शाप; एतावत्—इतना बड़ा; साधु-लक्षणम्—भक्त के लक्षण ।

महान् भक्त चित्रकेतु इतना शक्तिमान् था कि यदि वह चाहता तो पलट कर (बदले में) माता पार्वती को शाप दे देता, किन्तु ऐसा न करके उसने नम्रता से शाप को स्वीकार किया और शिवजी तथा उनकी पत्नी के सम्मुख अपना शिर झुकाया। इसे वैष्णव का आदर्श आचरण समझना चाहिए।

तात्पर्य : शिवजी द्वारा सूचित किये जाने पर माता पार्वती जान सकीं कि चित्रकेतु को शाप देकर उन्होंने त्रुटि की है। चित्रकेतु का चरित्र इतना महान् था कि पार्वती द्वारा गलती से शापित होने पर भी वह अपने विमान से तत्काल उतरा और शाप को अंगीकार करके माता के समक्ष अपना माथा टेका। इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है—*नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति*। चित्रकेतु ने खेल-खेल में माता के शाप को इसलिए स्वीकार कर लिया जिससे वे प्रसन्न

हो जाय। यही साधु का लक्षण है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*तृणादपि सुनीचेन तरोरपिसहिष्णुना*। भक्त को अत्यन्त विनम्र होना चाहिए और बड़ों का सम्मान करना चाहिए। श्रीभगवान् द्वारा रक्षित होने से भक्त सदा परम शक्तिमान होता है, किन्तु वह अपनी शक्ति का वृथा प्रदर्शन नहीं करना चाहता। किन्तु यदि अल्प-ज्ञानी पुरुष को थोड़ी सी भी शक्ति प्राप्त हो जाती है, तो वह उसका उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए करना चाहता है। भक्त का आचरण ऐसा नहीं होता।

जज्ञे त्वष्टृर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः ।

वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

जज्ञे—उत्पन्न हुआ; त्वष्टृः—त्वष्टा नामक ब्राह्मण का; दक्षिण-अग्नौ—दक्षिणाग्नि नामक यज्ञ की अग्नि में; दानवीम्—आसुरी; योनिम्—योनि; आश्रितः—शरणागत; वृत्रः—वृत्र; इति—इस प्रकार; अभिविख्यातः—विख्यात; ज्ञान-विज्ञान-संयुतः—जीवन के दिव्य ज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान से युक्त।

माता दुर्गा (भवानी, शिवजी की पत्नी) से शापित होकर उसी चित्रकेतु ने आसुरी योनि में जन्म लिया। वह त्वष्टा द्वारा किये गये यज्ञ से असुर के रूप में प्रकट हुआ, यद्यपि वह दिव्य ज्ञान और उसके व्यावहारिक उपयोग में अभी भी परिपूर्ण था और इस प्रकार वह वृत्रासुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तात्पर्य : योनि का सामान्य अर्थ जाति—अर्थात् परिवार, समूह या किस्म—समझा जाता है। यद्यपि वृत्रासुर असुरों के परिवार में उत्पन्न हुआ, किन्तु उसका आध्यात्मिक ज्ञान तब भी बना रहा। *ज्ञान-विज्ञान-संयुतः*—उसका दिव्य ज्ञान तथा जीवन में उस ज्ञान का व्यवहार उसे भूले नहीं। अतः यदि किसी कारणवश भक्त च्युत होता है, तो भी वह नष्ट नहीं होता।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं

को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ।

(भागवत १.५.१७)

एक बार भक्ति में सिद्ध हो जाने पर किसी भी दशा में उसकी आध्यात्मिक निधि का क्षय नहीं

होता। वह जितना भी आत्मज्ञान अर्जित कर चुका होता है, वह बना रहता है। भगवद्गीता में इसकी पुष्टि हुई है। यदि कोई भक्तियोगी भ्रष्ट होता है, तो वह सम्पन्न परिवार में या ब्राह्मण परिवार में जन्म ग्रहण करता है और वहाँ वह फिर से अपनी भक्ति के कार्यकलाप जहाँ उसने छोड़े थे, वहाँ से प्रारम्भ कर देता है। वृत्रासुर भले ही असुर कहलाता रहा हो, किन्तु उसकी भी कृष्णभावना या भक्ति विनष्ट नहीं हुई थी।

एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।

वृत्रस्यासुरजातेश्च कारणं भगवन्मतेः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुमको; सर्वम्—सब कुछ; आख्यातम्—बता दिया; यत्—जो; माम्—मुझसे; त्वम्—तुमने; परिपृच्छसि—पूछा था; वृत्रस्य—वृत्रासुर का; असुर-जातेः—असुर योनि में उत्पन्न; च—तथा; कारणम्—कारण; भगवत्-मतेः—कृष्णभावना में उन्नत बुद्धि का।

हे राजा परीक्षित! तुमने मुझसे पूछा था कि परम भक्त वृत्रासुर ने असुर वंश में किस प्रकार जन्म लिया; अतः मैंने तुम्हें उसके विषय में सब कुछ बताने का प्रयास किया है।

इतिहासमिमं पुण्यं चित्रकेतोर्महात्मनः ।

माहात्म्यं विष्णुभक्तानां श्रुत्वा बन्धाद्धिमुच्यते ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इतिहासम्—इतिहास; इमम्—यह; पुण्यम्—परम पवित्र; चित्रकेतोः—चित्रकेतु का; महा-आत्मनः—परम भक्त; माहात्म्यम्—महिमायुक्त; विष्णु-भक्तानाम्—विष्णु के भक्तों का; श्रुत्वा—सुनकर; बन्धात्—जीवन के बन्धन से; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

चित्रकेतु महान् भक्त (महात्मा) था। यदि कोई मनुष्य किसी शुद्ध भक्त से चित्रकेतु के इस इतिहास को सुने तो श्रोता भी इस संसार में अपने बद्ध जीवन से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : पुराणों में वर्णित ऐताहासिक घटनाएँ यथा भागवत पुराण का चित्रकेतु का यह इतिहास, अभक्तों अथवा बाहरी लोगों द्वारा कभी कभी गलत समझ लिया जाता है। इसलिए शुकदेव गोस्वामी का उपदेश है कि चित्रकेतु का यह इतिहास किसी भक्त के मुख से ही सुना जाये। भक्ति सम्बन्धी या भगवान् और भक्तों के सम्बन्ध में जो कुछ भी हो उसे भक्त से ही सुना

जाये, किसी व्यावसायिक वाचक से नहीं। यहाँ इसकी संस्तुति की गई है। श्री चैतन्य महाप्रभु के सचिव का भी यही कहना था कि श्रीमद्भागवत का इतिहास भक्त से ही सीखा जाये—*याह, भागवत पड वैष्णवेर स्थाने।* मनुष्य को चाहिए कि भागवत के कथनों को व्यावसायिक वाचकों से न सुनें अन्यथा उसका प्रभाव नहीं पड़ेगा। श्रीसनातन गोस्वामी ने *पद्म पुराण* से उद्धरण देते हुए कठोर वर्जना की है कि अभक्तों के मुख से भगवान् तथा उनके भक्तों का चरित्र न सुना जाये।

अवैष्णवमुखोद्गीर्णं पूतं हरिकथामृतम् ।

श्रवणं नैव कर्तव्यं सर्पोच्छिष्टं यथा पयः ॥

“अवैष्णव के मुख से श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सुना जाना चाहिए। जिस प्रकार सर्प के होंठों का स्पर्श करने से दूध विषाक्त हो जाता है उसी प्रकार अवैष्णव द्वारा कृष्ण के सम्बन्ध में दिया गया व्याख्यान विषपूर्ण होता है।” केवल प्रामाणिक भक्त ही अपने श्रोताओं को भक्ति के विषय में उपदेश देकर उन्हें भक्तियोग में प्रभावित कर सकता है।

य एतत्प्रातरुत्थाय श्रद्धया वाग्यतः पठेत् ।

इतिहासं हरिं स्मृत्वा स याति परमां गतिम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो भी व्यक्ति; एतत्—यह; प्रातः—प्रातःकाल; उत्थाय—उठकर, जगकर; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; वाक्-यतः—मन तथा वाणी को वश में करके; पठेत्—पढ़े; इतिहासम्—इतिहास; हरिम्—परमेश्वर; स्मृत्वा—स्मरण करके; सः—वह व्यक्ति; याति—जाता है; परमाम् गतिम्—भगवान् के धाम को।

जो व्यक्ति प्रातःकाल उठकर अपने मन तथा वाणी को वश में रखकर तथा श्रीभगवान् का स्मरण करके चित्रकेतु का यह इतिहास पढ़ता है, वह बिना कठिनाई के भगवान् के धाम को चला जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत “माता पार्वती द्वारा चित्रकेतु को शाप” नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।